सार्वजनीन स्कूलीकरण और समानता*

उत्तर-कल्याणकारी राज्य में शिक्षा का अधिकार

कृष्ण कुमार

भाषान्तर : जनित जैन

सार संक्षेप

शिक्षा का अधिकार (आरटीई) कानून की घोषणा के बाद प्रारम्भिक स्कूलीकरण के सार्वजनीनता का दीर्घ-पोषित नीतिगत लक्ष्य अब पहुंच में दिखाई देता है। लेकिन सार्वजनीनता का अभिप्राय समानता हो, यह आवश्यक नहीं है। इसका परीक्षण शैक्षिक व्यवस्था में ही मौजूद कुछ मुख्य अवरोधों के संदर्भ में किया जा सकता है। इन अवरोधों की एक श्रेणी प्राथमिक, माध्यमिक व उच्च-शिक्षा के मध्य कायम संरचनागत संबंधों से बनती है। दूसरी बड़ी बाधा जो आरटीई के सामने है, वह है उत्तर-कल्याणकारी राज्य की प्रकृति एवम् शिक्षा से इसकी अपेक्षाएं।

2009 में शिक्षा का अधिकार (आरटीई) कानून की घोषणा के बाद प्रारम्भिक स्कूलीकरण के सार्वजनीनता का दीर्घ-पोषित नीतिगत लक्ष्य राष्ट्र की पहुंच में दिखाई देने लगा। प्रारम्भिक शिक्षा की सार्वजनीन पहुंच के पक्ष में विद्वानों की तरफ से जो वकालत हुई, उसमें यह धारणा थी कि जब स्कूलों में सभी बच्चों का प्रवेश और ठहराव सुनिश्चित हो जाएगा तो इससे शैक्षिक समानता स्थापित होगी। लेकिन, सार्वजनीनता का अभिप्राय समानता हो, यह आवश्यक नहीं है। ऐसा क्यों है? इसे शैक्षिक व्यवस्था के दायरे के बाहर मौजूद कारणों व शिक्षा व्यवस्था में स्वयं में मौजूद अवरोधों, दोनों के संदर्भ में, परखा जा सकता है। यह पर्चा सबसे पहले दूसरी स्थिति में मौजूद रुकावटों की पड़ताल करता है। खास तौर पर यह प्राथमिक, माध्यमिक व उच्च-माध्यमिक शिक्षा के बीच संरचनात्मक तौर पर कायम संबंधों का विश्लेषण करता है। शिक्षा की विभिन्न अवस्थाओं, जिनसे एक बच्चा गुजरता है, के बतौर पहचाने जाने वाली शब्दावली जैसे 'प्राथमिक', 'माध्यमिक' व 'उच्च' को सामान्य तौर पर इस व्यवस्था के पृथक घटकों के तौर पर देखा जाता है। रोजमर्रा के समान्य बोध से यह लोकप्रिय दृष्टिकोण जन्म लेता है कि उच्च-शिक्षा प्राथमिक व माध्यमिक शिक्षा की गुणवत्ता पर निर्भर होती है। इन तीनों खंडों के बीच के संबंधों की, अलग से, बमुश्किल ही कभी पड़ताल की जाती है। प्रस्तुत पर्चे के माध्यम से यह प्रदर्शित करने का प्रयास किया गया है कि प्राथमिक, माध्यमिक व उच्च-माध्यमिक शिक्षा के बीच कायम संबंध ऐसे अवरोधों को जन्म देते हैं जिनके परिणामस्वरूप, शायद यह संभव ना हो कि सार्वजनीन स्कूलीकरण के द्वारा समानता को पोषित किया जा सके। इस विश्लेषण को प्रारम्भ करने के लिए, यह पर्चा आरटीई कानून के पाठ व प्रारम्भिक शिक्षा की मौजूदा व्यवस्था की इसमें जो

---

* यह आलेख जून, 2018 में MIDS (Madras Institute of Development) में प्रस्तुत Studies Working Paper No. 228 Universal Schooling and Equality: Right to Education under a Post-Welfare State के हिन्दी अनुवाद का एक अंश है। शेष अंश आगामी अंक में प्रकाशित किया जाएगा।

आलोचना है, उसे समझने की कोशिश करता है। स्कूल व उच्च-शिक्षा के बीच की अंतःक्रिया की पड़ताल करने के लिए, एक अतिव्यापी क्षेत्र के बतौर यह पर्चा शिक्षक प्रशिक्षण पर ध्यान केंद्रित करता है। यह शिक्षाशास्त्रीय उत्पादों के तकनीक-केंद्रित बाजार और सूचना व संचार प्रोद्योगिकी की बढ़ती हुई मौजूदगी व दायरे को भी शामिल करता है। व्यवस्थागत रुकावटों के इस विश्लेषण के बाद, बाहरी बाधाएं जो उत्तर-कल्याणकारी राज्य की प्रकृति में ही मौजूद हैं व शिक्षा से इसकी जो अपेक्षाएं हैं, उनका परीक्षण किया जाएगा।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

19वीं सदी के दूसरे हिस्से में प्रारम्भिक स्कूलीकरण का सार्वजनीकरण प्रारम्भ हुआ जो धीरे-धीरे दुनिया के हर कोने में फैल गया। इस परिघटना को एक आंदोलन की तरह देखा जा सकता है जिसने 'शिक्षा' व विभिन्न भाषाओं में मौजूद इसके प्रकारों के मायने बदल दिए। यह आंदोलन अब भी उभर रहा है और फैल रहा है। दक्षिण एशिया में इस आंदोलन का उभार अभी हाल ही में हुआ है और भारत में अभी भी यह बहस जारी है कि समाज और राज्य की भूमिका क्या हो (मेंडेल 2018)। इस तरह की बहसें दुनिया के दूसरे हिस्सों में पहले उभर चुकी हैं। ये आर्थिक, राजनीतिक और कानूनी मुद्दों के साथ गुंथी हुई हैं और कई मामलों में सांस्कृतिक मुद्दों के साथ भी। इस तरह की बहसों में जिम्मेदारी का प्रश्न केन्द्र में रहा है, खास तौर पर वित्तीय मामले में, क्योंकि स्कूलीकरण को सार्वजनीन करने के किसी भी प्रयास में, चाहे वह कुछ वर्षों के लिए ही हो, भारी मात्रा में धन खर्च होता है। इसे राज्य द्वारा वहन किया जाए या यह परिवार की जिम्मेदारी है, यानी बच्चे के माता-पिता की? इस तरह के सवाल से इस धारणा, और इसके पीछे मौजूद विश्वास, का पता लगता है कि स्कूली शिक्षा पूरे समाज के लिए लाभप्रद है व उस बच्चे के लिए भी जो इसे प्राप्त कर रहा है। इस तरह के लाभों को तब तक गिनाया या परिभाषित नहीं किया जा सकता जब तक कि हम इस पर नजर ना डाल लें जिसे हम आधुनिकता की मांगें कह सकते हैं, विशेष तौर पर, वे जरूरतें जो किसी अर्थव्यवस्था के 'आधुनिकीकरण' के दौर से गुजरने के दौरान पैदा होती हैं - अवधारणा जो कि आधुनिक, औद्योगिक समाज को प्रोत्साहित करने हेतु राज्य द्वारा किए जाने वाले प्रयास से जुड़ी हुई है। एक लक्ष्य के तौर पर आधुनिकता, जहां आधुनिकीकरण की प्रक्रिया से गुजरकर पहुंचा जाता है, को बड़े पैमाने पर सार्वजनीन साक्षरता और लोकतंत्र से जोड़कर देखा जाता है।

यह माना जाता है कि आधुनिकीकरण के लिए साक्षर नागरिक वर्ग की दरकार होती है। वे नागरिक जो औद्योगिक अर्थव्यवस्था में काम करते हैं, एक राजनीतिक व्यवस्था की रचना करते हैं और यह माना जाता है कि इससे आधुनिक किस्म की अर्थव्यवस्था कायम रहेगी। इस राजनीतिक व्यवस्था पर प्रथागत तौर पर लोकतंत्र का लेबल लगा दिया जाता है। यह भी कि यह सार्वजनीन साक्षरता पर निर्भर होता है। इस तरह लेबल लगा देना ना केवल अपर्याप्त है बल्कि कुछ हद तक भ्रमित करने वाला भी है। लोकतंत्र व औद्योगिक अर्थव्यवस्था अवश्यम्भावी तौर पर एक-दुसरे से जुड़े हुए नहीं होते क्योंकि, कई समाजों में औद्योगिक विकास ने अपने पैर जमाये लेकिन किसी तरह की लोकतांत्रिक व्यवस्था और बुनियादी मूल्यों को पनपते हुए नहीं देखा गया (मूर 1968)। आधुनिकता भी अपने आप में एक समस्याग्रस्त शब्द बना रहा है, खास तौर पर आधुनिकीकरण के संदर्भ में, जिसे दुनिया के विभिन्न हिस्सों में ऐसी स्थितियों में भी अपनाया गया है जो कि लोकतंत्र की किसी भी परिभाषा से मेल नहीं खातीं (टौरैन 1998)।

यहां पर ऐतिहासिक संदर्भ फायदेमंद हो सकता है। प्रारम्भिक या जिसे इंग्लैंड में प्रायः बुनियादी स्कूली शिक्षा कहा जाता है, के सार्वजनीनीकरण के लिए आन्दोलन का उभार व प्रसार धीमी गति से हुआ। बच्चों को स्कूल जाने के लिए उस काम की जिम्मेदारी से मुक्त होना पड़ता था जो वे परिवार की आय में अपना योगदान देने के लिए करते थे। बाल-श्रम को प्रभावी तौर पर अवैध घोषित किए जाने में लंबा वक्त लगा, आंशिक तौर पर सामाजिक-आर्थिक बाधाओं के कारण व राजनीतक कारणों से भी। इसके वाबजूद कि संसदीय मंचों पर बहस की सक्रिय व्यवस्था मौजूद थी, सहमती बनना आसान नहीं था, ना केवल जड़ रवैये की वजह से, बल्कि खास तौर पर इस वजह से कि सस्ते

श्रम के उपलब्ध होने में पूंजीपति व उद्यमी वर्ग के निहित स्वार्थ थे। इंग्लैंड में सार्वजनीन बुनियादी शिक्षा को सहयोग करने और कानूनी जामा पहनाने का संघर्ष 20वीं सदी के प्रारम्भ तक चला और बुनियादी शिक्षा को लोकतांत्रिक बनाने का एक समानांतर संघर्ष, असमानतापूर्ण सामाजिक परिदृश्य में एक समतावादी शिक्षा सुनिश्चित करने के अर्थ में, 20वीं सदी के मध्य में द्वितीय विश्व-युद्ध के समाप्त होने के बाद तक चलता रहा (लॉसन व सिल्वर 1973)। इस लम्बे और धीमे आन्दोलन के विपरीत जापान ने मीजी शासकों के दौर में सार्वजनीन स्कूलीकरण की दिशा में तीव्र और क्रांतिकारी प्रगति की। इंग्लैंड से, राजनितिक व आर्थिक दोनों तरह से, पूरी तरह भिन्न परिस्थितियों में (कोबायशी 1976), जापान ने किसान वर्ग को अपने बच्चों को खेत से आजाद करने के लिए मजबूर करके, लगभग पूरी तरह से सार्वजनीन स्कूलीकरण के लक्ष्य को हासिल किया। जापान की कहानी अपने आप में अनूठी व विचित्र प्रतीत हो सकती है, क्योंकि लोकतंत्र व सार्वजनीन स्कूलिंग के लिए इसके संघर्ष बिलकुल भिन्न रहे हैं। हालांकि, कुछ एकरूपता जरूर नजर आ सकती है और यह तब नजर आती है जब 20वीं सदी के अलग-अलग दौर में रूस और चीन, क्यूबा और वियतनाम जैसे बिलकुल अलग समाजों की तरह ही साम्यवादी राज्यों के अधीन बच्चों पर स्कूलीकरण व वयस्कों पर साक्षरता को थोपते हुए देखा गया था। इसी तरह के और पश्चिमी यूरोपीय महाद्वीप के कुछ अन्य राष्ट्रों के अनुभव हमें यह याद दिलाते हैं कि अर्थव्यवस्था के औद्योगीकरण व स्कूलिंग के सार्वजनीकरण के मध्य कोई सुसंगत संबंध नहीं पाया जाता। कई मामलों में, जैसे स्कैन्डिनेवियन राष्ट्रों के मामले में, स्कूलीकरण का प्रसार औद्योगिक विकास व आधुनिक राज्य, जो कि जरूरी नहीं कि हर मामले में लोकतांत्रिक ही था, के उद्भव के बाद हुआ, ना कि इसके पहले। यह अनिश्चितता उन सभी राष्ट्रों में लगातार देखी जा रही है जहां औद्योगिक अर्थव्यवस्था में ऊंची विकास दर हासिल हुई है या जो ऐसी कोशिश कर रहे हैं।

ये सभी ऐतिहासिक सबक भारत के लिए काफी हद तक प्रासंगिक हैं और उपयोगी भी हैं जहां औद्योगिक अर्थव्यवस्था अभी नवजात अवस्था में है और कई अन्य कारकों के चलते, ग्राम्यता के विरोध के आगे खुद को टिकाने और आगे बढाने के लिए संघर्ष कर रही है। 'ग्राम्यता' शब्द का इस्तेमाल मैं जीविका की कृषि आधारित व्यवस्था व साथ ही कुछ खास तरह की सांस्कृतिक विशेषताओं के लिए करूंगा (कुमार 2014)। भारत में सार्वजनीन स्कूलीकरण की कहानी अभी हाल ही में 21वीं सदी के प्रारम्भ में शुरू हुई है। यह 2009 में आरटीई कानून के संसद में पारित होने के साथ औपचारिक तौर पर शुरू हुई। इस महत्त्वपूर्ण कानूनी अधिनियम की पृष्ठभूमि काफी लम्बी, जटिल और विचित्र है। आरटीई 2002 में संविधान में किए गए संशोधन के परिणामस्वरूप अस्तित्व में आया। मूल रूप में संविधान में विशिष्ट तौर पर शैक्षिक अधिकार का कोई जिक्र नहीं है। केवल भाग 4 में अनुच्छेद 45 दिया गया है जिसमें 'निर्देशक तत्वों' की सूची दी गयी है। अनुच्छेद 45 में एक निर्देशक तत्त्व है जो राज्यों को निर्देशित करता है कि वे 6 से 14 वर्ष के सभी बच्चों को मुफ्त व अनिवार्य शिक्षा प्रदान करें। इस प्रावधान के तहत संविधान सार्वजनीन शिक्षा को राज्य की एक नैतिक जिम्मेदारी के तौर पर पहचान देता है, ना कि एक न्यायिक अधिकार की तरह, कि उसके लिए नागरिक कोई दावा पेश कर सकें। यह अधिकार, जिसे आरटीई के नाम से जाना जाता है, अनुच्छेद 21 में किए गए संशोधन को प्रतिबिम्बित करता है, जो कि संविधान के भाग 3 में मौजूद है तथा जहां नागरिकों के मूल व न्यायिक अधिकारों को रखा गया है। अनुच्छेद 21 में नागरिकों के जीवन के अधिकार को शामिल किया गया है। इसे अब संशोधित करके इसमें एक अतिरिक्त धारा जोड़ दी गई है जो कहती है: 'राज्य 6 से 14 वर्ष के सभी बच्चों को मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा प्रदान करने का, ऐसी रीति से प्रावधान करेगा, जिसे राज्य कानूनी तौर पर उचित पाए।' इस धारा के जोड़े जाने से पहले अनुच्छेद 21 में केवल जीवन का अधिकार शामिल था। कई वर्षों के कानूनी प्रयासों व अवधारणात्मक व्याख्याओं के बाद कहीं जाकर यह हुआ कि अनुच्छेद 21 इस शक्ल में आ सका कि जीने का अधिकार गरिमा के साथ जीने का अधिकार बना। आरटीई नागरिकों के जीवन के इसी पहलू को ठोस स्वरुप प्रदान करता है। इसी वजह से हम कह सकते हैं कि आरटीई शिक्षा को व्यक्तिगत जीवन में गरिमा या सम्मान के संसाधन के तौर पर देखता है। यह उन सभी उपायों का उल्लेख करता है जिन्हें राज्य, बाल्यवस्था के दौरान सभी के लिए 8 वर्ष की अनिवार्य स्कूली शिक्षा सुनिश्चित करने हेतु, लागू करने के लिए कानूनी तौर पर बाध्य है।

शिक्षा, गरिमा व बराबरी

स्कूल वह जगह है जहां नागरिक वर्ग बाल्यवस्था के दौरान गरिमा के इस मूल तत्व को महसूस करेगा। इस कानूनी पृष्ठभूमि की रौशनी में समझा जा सकता है कि आरटीई शिक्षा को महज 6 वर्ष की उम्र में स्कूल में प्रवेश देने से कहीं अधिक मानता है। आरटीई में जिन 8 वर्षों को शामिल किया गया है, उनमें यह अपेक्षा है कि वे सीखने के ऐसे अनुभव प्रदान करेंगे जिनसे भावी जीवन मूल्यवान बनेगा यानि, इसमें जीवन को गरिमामय ढंग से आगे बढाने की आशा छुपी होगी। शैक्षिक अनुभव कितने सूक्ष्म ढंग से किसी नागरिक के भावी जीवन में इस खास पहलू को पोषित कर सकते हैं, इसके संदर्भ में आरटीई के विभिन्न खण्डों में पर्याप्त मात्रा में संकेत मौजूद हैं। ये संकेत उन तमाम चीजों को शामिल करते हैं जिन्हें हम शैक्षिक सुधार की एक नीति या रूपरेखा कह सकते हैं और इस अर्थ में आरटीई केवल एक अधिकार नहीं बल्कि, इससे कहीं अधिक है। और यह भी बताता है कि इस अधिकार को कैसे सौंपा जाना है।

आरटीई की ये खास विशेषता उस चुनौती का जवाब दे सकती है जो बच्चो को प्रदान किए जाने वाले किसी भी अधिकार के समक्ष पेश आती है - यानि, अधिकार के अमल में लाये जाने को सुनिश्चित करने हेतु बच्चों का अपने वयस्क संरक्षकों पर निर्भर रहना। यह निर्भरता इस स्वाभाविक धारणा का परिणाम है कि बच्चे अपने अधिकार की मांग स्वयं पेश नहीं कर सकते। आरटीई ऐसे कई उपायों का उल्लेख करता है जिनके माध्यम से स्कूल में 8 वर्ष तक रहने के अधिकार को स्कूली अनुभव में महसूस किया जाना है। इसमें कई ऐसे उपाय सुझाए गए हैं जिन्हें कारगर स्थितियों व क्रियान्वयन के लिए आवश्यक सांस्थानिक संसाधनों के निर्माण हेतु अपनाया जाना लाजमी है। इसके अलावा, कई ऐसे भी उपबन्ध हैं जिन्हें वर्तमान शिक्षा व्यवस्था की आलोचना के तौर पर देखा जा सकता है।

आइये इनमें से कुछ पर नजर डालते हैं। इन्हें दो मोटी श्रेणियों में बांटा जा सकता है। पहली श्रेणी में हम व्यवस्था द्वारा लागू किए जाने वाले मानदंडों को रख सकते हैं। इसमें शिक्षक-छात्र अनुपात, आरटीई के अंतर्गत स्तर या ग्रेड, शिक्षा के अलावा अन्य कार्यों में शिक्षक की संलग्नता और शिक्षकों की भर्ती शामिल है। ये सभी आरटीई द्वारा व्यवस्था की स्पष्ट आलोचना से पैदा होते हैं। उदहारण के लिए, आरटीई में शामिल आयु सीमा को दो अलग-अलग चरणों में रखा गया है, ‘प्राथमिक’ व ‘उच्च-प्राथमिक’ जिन्हें मिलाकर ‘प्रारम्भिक’ शिक्षा के 8 वर्षों की समयावधी का निर्माण होता है। प्राथमिक चरण पहले पांच वर्षों का है व उच्च-प्राथमिक शेष तीन वर्षों का। आरटीई द्वारा प्रतिपादित इस विभाजन के अनुरूप प्रारम्भिक स्कूलीकरण को ढालने व दिशा देने का कार्य पहले से ही कई ऐसे राज्यों में शुरू हो चुका है, जहां सात साल का चक्र था, चार साल प्राथमिक व तीन साल उच्च-प्राथमिक चरण। कुछ राज्यों में उच्च-प्राथमिक की पाठ्यचर्या माध्यमिक बोर्ड द्वारा तैयार की जाती है। इस व्यवस्था को बदलना होगा ताकि आरटीई की शब्दावली से संगती स्थापित की जा सके, जहां प्राथमिक व उच्च-प्राथमिक चरणों को संयुक्त रूप से ‘प्रारम्भिक’ चरण में रखा गया है।

इसी तरह, एक शिक्षक पर 30 बच्चों का जो अनिवार्य अनुपात पूरे प्रारम्भिक चरण के लिए रखा गया है, इसमें भी इस बात का विरोध झलकता है कि जरूरत से कम शिक्षकों द्वारा बड़ी-बड़ी कक्षाओं को संभाला जाए, जैसा कि भारत के कई हिस्सों में सामान्य तौर पर देखने को मिलता है। आरटीई इससे आगे जाता है और साफ तौर पर कहता है कि उच्च-प्राथमिक स्तर पर आवश्यक तौर पर विषयवार शिक्षक होने चाहिए। आरटीई में दी गयी अनुसूची प्रत्येक स्कूल में कला व शिल्प के शिक्षण और शारीरिक शिक्षा के लिए अंशकालिक शिक्षकों की भी मांग करती है। शिक्षणशास्त्रीय मानदंडों व मानकों के संबंध में अपनी दृष्टि को सुदृढ़ बनाने हेतु आरटीई शारीरिक दंड देने पर तुरंत प्रभाव से रोक लगाने की मांग करता है, जो कि सभी तरह के भारतीय स्कूलों में सामान्य तौर पर दिखाई देता है। उतने ही महत्त्वपूर्ण तरीके से आरटीई बोर्ड द्वारा ली जाने वाली परीक्षा पर भी रोक लगाता है। वर्तमान में कई राज्य कक्षा 5 व 8 के अंत में बोर्ड परीक्षा आयोजित करते हैं। और कुछ राज्यों में कक्षा 1 से ही प्रति वर्ष एक वार्षिक केंद्रीयकृत परीक्षा ली जाती है। इन परीक्षाओं के माध्यम से बच्चों को ‘पास’ और ‘फेल’ की श्रेणियों में बांट दिया

जाता है और जो फेल हैं उन्हें उसी कक्षा में दोबारा पढ़ना होता है। वार्षिक परीक्षाओं के स्थान पर आरटीई सतत एवं समग्र मूल्यांकन (सीसीई) व्यवस्था को अनिवार्य तौर पर लागू करने के निर्देश देता है, जिसमें बच्चों की अकादमिक प्रगति और विकास के सभी पहलुओं का सतत आकलन किया जाता है।

दूसरी श्रेणी में हम आरटीई द्वारा अनुसूचित की गई शिक्षणशास्त्रीय गतिविधियों को रख सकते हैं जिन्हें शिक्षकों द्वारा क्रियान्वित किया जाना है। खंड 5 में, लगभग पांच ऐसे उपबंध हैं जो अच्छी गुणवत्ता की प्रारम्भिक शिक्षा प्रदान करने हेतु गतिविधियों की सूची प्रस्तुत करते हैं। ये बाल-केन्द्रित शैक्षिक गतिविधियां हैं जिनमें वे अनुभव व कार्य शामिल हैं जो बच्चे के समग्र विकास में योगदान देते हैं। सीसीई, जिसका कि पहले जिक्र किया गया है, भी इस सूची का हिस्सा है। खंड 5 का सबसे महत्त्वपूर्ण पहलू यह है कि कक्षा में जाति, वर्ग या लिंग के आधार पर कोई भेदभाव ना किया जाए। यह निर्देश भारत में स्कूली शिक्षा के संदर्भ में किए गये विभिन्न अध्ययनों में दिखाई देने वाली एक सामान्य सच्चाई को साफ तौर पर अस्वीकार करता है और इसकी आलोचना करता है (e.g. Nambissan 2009)। भेदभावपूर्ण शैक्षिक क्रियाकलाप को तुरंत प्रभाव से प्रतिबंधित कर आरटीई राज्य व प्रारम्भिक शिक्षा प्रदान करने वाले अन्य निकायों पर समतावादी आचार-व्यवहार का निर्माण करने व कायम रखने की जिम्मेदारी सौंप देता है।

समानता के लिए चिंता एक दूसरे उपबन्ध में काफी तीव्रता से जाहिर होती है जहां आरटीई यह प्रावधान करता है कि आर्थिक रूप से कमजोर वर्गों (ईडब्ल्यूएस) से आने वाले बच्चों को शुल्क वसूल करने वाले निजी तौर पर संचालित स्कूलों में 25 प्रतिशत आरक्षण दिया जाये। यह क्रांतिकारी प्रावधान विशिष्ट तौर पर सकल नामांकन पर केन्द्रित नहीं है और ना ही ऐसी कोई धारणा है कि समतापूर्ण प्रारम्भिक शिक्षा सभी बच्चों की पहुंच में आ जाएगी यदि निजी क्षेत्र के स्कूल भी अपना योगदान दें। आरटीई के लक्ष्य इससे कहीं आगे के हैं, वे इस मायने में कि यह भारतीय समाज और राज्य के लिए एक नैतिक उद्देश्य भी प्रदान करना चाहता है। आरटीई कुछ जटिल कारकों को भी रेखांकित करता है जिसमें इसकी अपनी सफलता के लिए सहायक परिस्थितियों को शामिल किया गया है। जैसा कि पहले जिक्र किया गया है, आरटीई संशोधित (अनुच्छेद 21 में, 86वें संशोधन के माध्यम से) जीवन के अधिकार को पुनर्परिभाषित करने की संविधान की मांग को संबोधित करता है ताकि जिस जीवन की रक्षा यह करे वह गरिमा के साथ जीने में समर्थ हो। विभिन्न प्रावधान, जो आरटीई के तहत बच्चों को एक सकारात्मक व सक्रिय स्कूली अनुभव प्रदान करने हेतु किए गए हैं - सभी बच्चों के लिए, जिसमें वे भी शामिल हैं जिनकी पृष्ठभूमि या लिंग उन्हें भेदभाव या बेदखली का शिकार बना सकते हैं , मानवीय व सामाजिक तौर पर रूपान्तरकारी शिक्षा के अवयवों की तरह देखे जा सकते हैं। इसलिए हम कह सकते हैं कि आरटीई कल्याणकारी राज्य के विचार से जन्म लेता है और राज्य सत्ता को एक ऐसे मजबूत निकाय की तरह देखता है जो सामाजिक यथार्थ में दखल करेगा, जो कि परम्पराओं व अन्य सांस्कृतिक तथ्यों से मिलकर बना है और उन्हीं की मदद से कायम है। यह एक समर्थकारी राज्य की धारणा से काफी भिन्न है जो कि सीमित प्रशासनिक भूमिका में होता है, जहां बाजार को काम करने की छूट देने व फलने-फूलने की अपेक्षा की जाती है।

आरटीई की विरासत व शुरूआती अनुभव

आरटीई की अपनी ऐतिहासिक विरासत उस ऐतिहासिक क्षण के विपरीत है जिसमें इसे कानूनी स्वरुप दिया गया। यह विरासत भारत के औपनिवेशिक राज्य में स्वाधीन राष्ट्रीयता अर्जित करने के पूरे संघर्ष को प्रतिबिंबित करती है। भ्रूण रूप में, आरटीई सबसे पहले 1911 में इम्पीरियल विधान सभा में पेश किए गए एक विधेयक के तौर पर प्रकट हुआ जब गोपाल कृष्ण गोखले ने प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य और मुफ्त करने हेतु एक विधेयक सामने रखा (कुमार 2014)। उस समय की परिस्थितियों को देखते हुए विधेयक में केवल लड़कों को शामिल किया गया था। लड़कियों के लिए जल्दी शादी व मातृत्व एक किस्म के मानदंड थे और पहला बाल विवाह रोक अधिनियम अभी 18 वर्ष दूर था। लेकिन लड़कों के लिए भी, गोखले का विधेयक ताकतवर जमींदारों की जमीन पर बाल-श्रम करने से बचाने के लिए एक साहसिक व क्रांतिकारी कदम था। ऐसे ही एक व्यक्ति, दरभंगा (बिहार) के राजा, जो कि विधान सभा के सदस्य

थे, ने गोखले के विधेयक का काफी सटीक तौर पर यह पूछते हुए पुरजोर विरोध किया कि यदि 11 वर्ष से कम उम्र के सभी बच्चों को स्कूल जाने पर मजबूर किया जाएगा तो उनके खेतों में कौन काम करेगा और पैदावार की देखभाल कौन करेगा।

यह दृष्टिकोण मोटे तौर पर, ना कि चुनिंदा तौर पर, बाल-श्रम के विरोध का आधार बना रहा। इस अधूरे कानूनी त्रिकोण - जिसमें बाल विवाह पर रोक लगाने में प्रयासरत कानून, अन्य लोग जो बाल-श्रम को रोकने पर ध्यान दे रहे थे, और मुफ्त प्राथमिक शिक्षा प्रदान करने के लिए प्रांतीय कानून शामिल थे- ने यह सुनिश्चित किया कि बच्चों की स्कूली शिक्षा तक पहुंच एक अनिच्छापूर्ण ढंग से ही सही लेकिन राज्य की जिम्मेदारी बनी रहे। 20वीं सदी के अंतिम दशक में वीनर (1991) ने प्राथमिक शिक्षा के सार्वजनीकरण के प्रति राज्य की उपेक्षा को स्पष्ट करने के अपने प्रयासों के दौरान शिक्षित मध्यम वर्ग में मौजूद जड़ रवैये को महसूस किया। राजनितिक विमर्श हमेशा एक 'वित्तीय व्याख्या' की मांग करता है, संविधान निर्माण के दौरान 'राज्य की क्षमता' शब्द का जो लगातार इस्तेमाल किया गया है, इससे यही स्पष्ट होता है। नायक (1975) के अनुसार संविधान का अनुच्छेद 45 (86वें संशोधन से पहले) भारत के बच्चों से एक 'वायदा' करता है। नायक द्वारा प्रारम्भिक शिक्षा के सार्वजनीनता की वकालत करने के पीछे यह धारणा थी कि राज्य को एक व्यावहारिक योजना की आवश्यकता थी ताकि वह अपनी उस नैतिक जिम्मेदारी को पूरी करने में हो रही हिचकिचाहट को दूर कर सके जो उसने स्वीकार तो कर ली थी, यह जानते हुए भी कि इसे पूरा करना उसकी वित्तीय व प्रशासनिक क्षमता के बाहर था।

जब आरटीई कानून लागू हुआ और उसे अमल में लाया गया, ऐसा महसूस हुआ कि प्रारम्भिक शिक्षा के सार्वजनीकरण के कार्य से सार्वजनिक निधि पर जो बोझ पड़ रहा है उससे राज्य की वित्तीय क्षमता के समक्ष एक मुश्किल खड़ी हो गयी है। इसकी जड़ें राष्ट्रीय फ्लैगशिप कार्यक्रम 'सर्व शिक्षा अभियान' (एसएसए) द्वारा प्राप्त किए गए नतीजों में हैं। अपने पूर्ववर्ती कार्यक्रम, 'जिला प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम' (डीपीईपी), की तरह ही एसएसए भी केंद्र से राज्य को काफी उदारतापूर्ण दिए गए वित्त से पोषित था जबकि केंद्र के स्वयं के संसाधन अंतर्राष्ट्रीय दानदाता संस्थाओं के योगदान से फलफूल रहे थे। अपने पहले पांच वर्षों (2002-07) के दौरान, एसएसए ने भरपूर वित्तीय संसाधनों से युक्त माहौल का निर्माण किया जिससे प्रारम्भिक शिक्षा व्यवस्था में कई नए विचारों की नींव पड़ी। इसमें उप-जिला स्तर पर शिक्षक सहयोग व्यवस्था, स्कूली भवनों का तीव्र गति से निर्माण, शिक्षकों को शिक्षणशास्त्रीय संसाधनों की उपलब्धता इत्यादि शामिल थे। नामांकन व ठहराव दोनों में तेज गति से वृद्धि हुई और हुआ ये कि शिक्षा की सार्वजनीनता सांस्थानिक हाथों की पहुंच में आ गई जो कि इससे पहले लगातार उच्च-ड्रॉप आउट दर का सामना कर रहे थे, खास तौर पर उत्तर भारत के अधिक आबादी वाले राज्यों में।

लेकिन, ये जो समृद्धता का भान एसएसए ने पैदा किया था, यह आरटीई के अमल में आने के बाद बहुत समय तक नहीं रहा। केंद्र ने जो उदारता दिखाई थी वह वित्तीय सहयोग एक परियोजना के स्वरुप में था जिसमें पुराने व्यवस्थागत ढांचों को नजरअंदाज कर दिया गया था, जैसे शिक्षा निदेशालय। परियोजना के रूप में केंद्र से सीधे वित्तीय सहायता से नामांकन में वृद्धि और ठहराव का एक फौरी लक्ष्य पूरा हुआ। इससे ये उम्मीद बढ़ गई कि राज्य एसएसए के एक परियोजना के तौर पर पूर्ण हो जाने के बाद भी अपने स्वयं के संसाधनों से प्रारम्भिक शिक्षा के लिए वित्तीय पोषण जारी रखेगा और व्यवस्थागत सुधार भी लाएगा। कुछ हद तक, दक्षिण भारतीय राज्य वित्तीय संसाधनों में बढ़त कायम रख पाए, हालांकि बिना कोई समग्र व्यवस्थागत सुधार लाये; लेकिन उत्तर भारतीय राज्यों ने पूरी तरह से अपनी अक्षमता के संकेत देने शुरू कर दिए। आरटीई के अमल में आने के कुछ ही समय में एसएसए एक सुखद याद बनकर रह गया। एक कानून के बतौर, आरटीई जोश खोता चला गया, खास तौर पर उन पहलुओं में जहां यह जड़ हो चुकी व्यवस्थागत व शिक्षणशास्त्रीय क्रियाकलापों को रूपांतरित करना चाहता था, उनमें दरार पैदा करना चाहता था।

आरटीई में मौजूद विभिन्न प्रावधानों के खिलाफ लोगों ने कोर्ट का दरवाजा खटखटाया। सबसे पहले जिन पहलुओं पर निशाना साधा गया उनमें से एक था, आर्थिक रूप से कमजोर अभिभावकों (ईडब्ल्यूएस) के बच्चों के लिए आरक्षण का प्रावधान। इसमें कोई सफलता हासिल नहीं हुई। सुप्रीम कोर्ट ने प्रावधान को जारी रखा लेकिन ऐसे स्कूलों को इससे बाहर रखने पर सहमती दी जिन्हें कोई वित्तीय सहायता प्राप्त नहीं हो रही है या जिन्हें धार्मिक या भाषाई अल्पसंख्यकों द्वारा चलाया जा रहा है। अगला आक्रमण आरटीई की इस कोशिश पर किया गया जिसके अंतर्गत वार्षिक परीक्षाओं और पास-फेल की व्यवस्था पर रोक लगाई गयी है और केन्द्रीय मानव संसाधन विकास (एचआरडी) मंत्रालय भी वार्षिक परीक्षा व्यवस्था को पुनर्स्थापित करना चाहती थी। शिक्षा के लिए केन्द्रीय सलाहकार बोर्ड (सीएबीई) द्वारा नियुक्त समिति ने सुझाव दिया कि राज्यों को अपनी मूल्यांकन प्रणाली तय करने के लिए स्वतंत्र छोड़ देना चाहिए। इस निर्णय को किसी संशोधन के माध्यम से आरटीई में शामिल किए जाने का अभी इंतजार है। यदि यह निर्णय लागू हो जाता है तो यह केवल नामांकन बढाने के उद्देश्य पर ही नहीं बल्कि, व्यवस्था में सुधार के आरटीई के व्यापक उद्देश्यों पर एक बड़ी चोट होगी।

आरटीई का विरोध

अब तक यह बात साफ हो चुकी है कि शिक्षा के अधिकार को मुख्य तौर पर पहुंच में इजाफा करके सार्वजनीनता हासिल के एक उपकरण के तौर पर देखा गया है। शैक्षिक अनुभवों की गुणवत्ता में समानता लाने की इसकी क्षमता को विरोध का सामना करना पड़ रहा है। इसके अमल में लाए हुए अभी एक दशक भी नहीं हुआ है और गंभीर अड़चनें पैदा हो गईं हैं, जो खास तौर पर इसके समतावादी शक्ति पर चोट पहुंचा रहीं हैं। ये अड़चनें अलग-अलग तरह की हैं : कुछ शैक्षिक व्यवस्था के भीतर ही मौजूद हैं जबकि दूसरी अन्य वृहद परिदृश्य में व राज्य के नीतिगत संस्कारों में। आरटीई के सामने मौजूद बाधाओं के बारे में हम चार वर्गों में चर्चा करेंगे। पहला, स्कूली शिक्षा व्यवस्था में, दूसरा, स्कूल और उच्च-शिक्षा के रिश्ते में, तीसरी शिक्षक प्रशिक्षण में और चौथी उत्तर-कल्याणकारी राज्य की आर्थिक व सामाजिक नीति के प्रारूप में। उस टकराव से शुरू करते हैं जिसका सामना आरटीई को व्यवस्था के भीतर करना पड़ता है। यह प्राथमिक, माध्यमिक व उच्च शिक्षा के रिश्ते में दिखाई देता है। आरटीई की चर्चा के केंद्र में प्राथमिक व उच्च-प्राथमिक शिक्षा रही है और यह इन चरणों को शिक्षा के अन्य चरणों से अलग करके देखता है। इस प्रवृति की वजह से हम उस असर को नहीं देख पाते जो माध्यमिक व उच्च शिक्षा प्राथमिक शिक्षा पर डालते हैं। ये उच्च चरण ना केवल वित्तीय संसाधनों के उस हिस्से को प्रभावित करते हैं जो प्राथमिक शिक्षा के लिए उपलब्ध हैं बल्कि, इसकी पाठ्यर्या व शिक्षकों द्वारा तय की गई शिक्षणशास्त्रीय रणनीतियों को भी। ये सूक्ष्म ढंग के प्रभाव विश्लेषण का हिस्सा तब ही बन पाते हैं जबकि हम शिक्षा व्यवस्था को, विभिन्न चरणों के बीच होने वाली अंतःक्रिया पर ध्यान देते हुए, इसकी संपूर्णता में देखते हैं। इस अंतःक्रिया में आवश्यक तौर पर उच्च चरण हावी रहते हैं जो अर्थव्यवस्था से प्राथमिक शिक्षा की तुलना ज्यादा सीधे तौर पर जुड़े हुए हैं। इस जुड़ाव के आधार पर, उच्च शिक्षा को राष्ट्रीय व सामाजिक विकास के लिए अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इस समझ में प्राथमिक शिक्षा, मुख्य तौर पर उच्च शिक्षा तक पहुंचने के लिए एक मार्ग है और इसकी अपनी परिस्थितियां, विशेषताएं व मांगें नजरअंदाज हो जाती हैं।

भारत की माध्यमिक शिक्षा में दो सार्वजनिक परीक्षाओं को चिन्हित किया जा सकता है। पहली कक्षा 10 के अंत में ली जाती है और दूसरी कक्षा 12 के अंत में। दोनों परीक्षाएं एक बोर्ड द्वारा आयोजित की जाती हैं - एक निकाय जो यह प्रमाणित करने के लिए अधिकृत है कि बच्चे ने परीक्षा पास कर ली है। कक्षा 10 की परीक्षा के बाद इस निकाय द्वारा जो प्रमाण-पत्र प्रदान किया जाता है उसमें बच्चे की जन्म तिथि भी होती है। कक्षा 10 या 'मैट्रिक' परीक्षा, जैसा इसे औपनिवेशिक दिनों में पारंपरिक तौर पर कहा जाता था, का मूल्य कानूनी तौर पर मानी जाने वाली उम्र प्रमाण-पत्र के तौर पर कहीं अधिक है, ना कि अकादमिक प्रदर्शन के प्रमाण के तौर पर। इस दूसरी भूमिका में कक्षा 10 का बोर्ड प्रमाण-पत्र कक्षा 11 और 12 में प्रवेश पाने के लिए एक लाईसेंस की तरह है। कक्षा 11 व 12 मिलकर

'उच्च-माध्यमिक' चरण का निर्माण करते हैं जिसके अंत में दूसरी बोर्ड परीक्षा आती है। इस दूसरी परीक्षा में बच्चे का प्रदर्शन स्नातक महाविद्यालय में प्रवेश का आधार बनता है। इन दोनों परीक्षाओं में मुख्य फर्क यह है कि दूसरी परीक्षा बच्चे द्वारा चुने गए विषयों तक सीमित रहती है जबकि, इससे पहले की परीक्षा स्कूल के सभी विषयों के लिए होती है। इस द्वि-परीक्षा प्रणाली को नीतिगत भाषा में 10+2 प्रणाली कहा जाता है, कोठारी आयोग (1964-66) (कोठारी 1966) द्वारा दिया गया नाम। ऐतिहासिक तौर पर कक्षा 10 की परीक्षा एक छलनी का काम करती रही है जिसका मुख्य उदेश्य था एक बड़ी संख्या में बच्चों को कॉलेज शिक्षा या नौकरी की ओर जाने से रोकना। ऐसा उन्हें 'फेल' घोषित करके किया जाता था। 19वीं सदी के बाद के हिस्से से शुरू होकर, लम्बे समय तक मैट्रिक परीक्षा में सफलता कई अलग-अलग तरह की नौकरियों, जिसमें ऑफिस की नौकरियां भी शामिल थीं, के लिए योग्यता का काम करती रही। परीक्षार्थियों को 'फेल' और 'पास' की श्रेणियों में बांटकर, मैट्रिक परीक्षा के नतीजे ऊर्ध्वगामी गतिशीलता या आगे बढ़ने के लिए नियामक का काम करते रहे, शिक्षा व्यवस्था के भीतर भी और नौकरियों के बाजार में भी।

इस नियामक की भूमिका में मार्किंग व्यवस्था ने मदद की जो कि पहले से ही मौजूद थी। मूल्यांकनकर्ता परीक्षार्थियों द्वारा दिए गए प्रश्नों के जवाबों पर इस आधार पर अंक देता था कि वे कितने 'सही' हैं। सटीकता का आकलन ज्यादातर विषयों में एक अधिकृत पाठ के संदर्भ में किया जाता था। यह भारतीय उप-महाद्वीप के संदर्भ में कोई अनूठी प्रक्रिया नहीं थी, सटीकता व गुणवत्ता का निर्धारण औपनिवेशिक समाजों के मामले में प्रत्येक विषय के लिए निर्धारित पाठ्यपुस्तकों के आधार पर ही किया जाता था। निर्धारित पाठ्यपुस्तकें कुछ मुख्य शिक्षणशास्त्रीय व प्रशासनिक प्रकार्यों को अंजाम देती थीं, जैसे यह शिक्षक को नियंत्रित करती थीं, आधिकारिक तौर पर माने जाने वाले ज्ञान को प्रस्तुत करके, और छात्र को नियंत्रित करती थीं, यह संकेत देकर कि उनका जवाब सार्वजनिक परीक्षा में कैसे जांचा जाएगा जहां छात्र व मूल्यांकनकर्ता दोनों की पहचान जाहिराना तौर पर गुप्त रखी जाती थी ताकि वस्तुनिष्ठता और अंकन निष्पक्षता सुनिश्चित की जा सके (कुमार 1988; ऑल्टबैक 1988)।

बोर्ड परीक्षा व्यवस्था की ये विशेषताएं आज भी कायम हैं। वे यह सुनिश्चित करते हैं कि परीक्षार्थियों के बीच एक बराबरी का आभास हो और बहुत सारे बच्चे जिनकी आर्थिक व सामाजिक पृष्ठभूमि बिल्कुल भिन्न है, उन्हें लगे कि सफलता अर्जित करने के लिए उनके पास समान अवसर उपलब्ध हैं। बोर्ड परीक्षाएं सफलता की संभावनाओं में समानता लाने के लिए कड़ी एकरूपता थोपते हैं, इस लिहाज से कि वे उनके लिए तय प्रश्नों का जवाब कैसे देंगे और मूल्यांकनकर्ता उनके जवाबों का अंकन कैसे करेंगे। यह परीक्षा केन्द्रित एकरूपता स्कूली व्यवस्था में किया गया एक संरचनात्मक प्रावधान है। इस एकरूपता से जो मुख्य प्रतीकात्मक प्रकार्य संभव होता है वह है, सामाजिक संरचना में मौजूद स्तरीकरण के संदर्भ में पूर्ण निष्पक्षता का संकेत देना।

यदि हम आरटीई की खास विशेषताओं पर ध्यान दें तो हम पाएंगे कि ये सभी शिक्षक की इस क्षमता की ओर इशारा करती हैं कि वह व्यक्तिगत भिन्नताओं को समझते हुए बच्चों की वैयक्तिकता को पहचान सके, उनसे जुड़ सके और इन भिन्नताओं को कक्षा में समृद्ध व समतावादी शिक्षणशास्त्रीय तौर-तरीके विकसित करने हेतु एक माध्यम की तरह देख सके। आरटीई का खण्ड 5 बाल-केन्द्रित, अनुभव-आधारित शिक्षण रणनीतियों पर प्रकाश डालता है। आरटीई शिक्षक वह है जो यह जानता है कि प्रत्येक बच्चे की प्रगति का उसकी अपनी विकास की दिशा के संदर्भ में मूल्यांकन कैसे किया जाए, ना कि केवल प्रत्येक बच्चे को दूसरे से तुलना करने के पुराने तरीके से। इसके अलावा, आरटीई पुरानी वार्षिक परीक्षा प्रणाली, जो 'पास' व 'फेल' करने के लिए बनाई गई थी, को बदलकर सीसीई को लाना चाहता है जहां प्रत्येक बच्चा अपनी गति के अनुसार कार्य कर सके। आरटीई द्वारा वैयक्तिकता को निखारने के प्रस्तुत तरीके और माध्यमिक स्तर की बोर्ड परीक्षा में एक मौलिक संघर्ष है। माध्यमिक स्तर की बोर्ड परीक्षा परीक्षा के लिए तैयारी को जांचने के लिए शर्तों की एकरूपता को थोपती है। तैयारी को जांचने के लिए जो ज्ञान का स्रोत है, वह है पाठ्यपुस्तकें। आरटीई का दृष्टिकोण ज्ञान को इस तरह बांधने के काफी खिलाफ है। कोई आश्चर्य नहीं कि आरटीई स्पष्ट तौर पर

अकादमिक निर्णयों के लिए एक मार्गदर्शक दस्तावेज के तौर पर राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा (एनसीएफ) (एनसीईआरटी 2005) का हवाला देता है। यह दस्तावेज उन पांच बुनियादी सिद्धांतों का जिक्र करता है जिन पर यह आधारित है, जिनमें तीसरा है कि 'अधिगम को पाठ्यपुस्तक के परे जाना होगा'।

यह व अन्य सभी विचार और प्रक्रियाएं जिनका एनसीएफ-2005 द्वारा अनुमोदन किया गया है, वे पाठ्यचर्या, शिक्षणशास्त्र व मूल्यांकन में उन्हीं सुधारों को इंगित करती हैं, जिनकी ओर आरटीई भी इशारा करता है। प्रारम्भिक कक्षा शिक्षण व क्रियाकलापों में आरटीई द्वारा की गई अनुसंशाओं में प्रचलित स्कूली प्रक्रियाओं व नीतियों का एक स्पष्ट नकार नजर आता है। ये प्रचलित प्रक्रियाएं प्राथमिक स्तर पर अधिगम की एकरूपता और व्यवहार में फौजी अनुशासन पर जोर देती हैं। एकरूपता को पाठ्यपुस्तक केन्द्रित शिक्षण के माध्यम से हासिल किया जाता है व अनुशासन को परीक्षा प्रणाली के माध्यम से। इसलिए हर बच्चा शुरू से ही बोर्ड परीक्षा का सामना करने के लिए तैयार किया जाता है। बच्चे की वैयक्तिकता को प्राथमिक चरण में ही दबा दिया जाता है। वे माध्यमिक कक्षाओं की तरफ एक-दूसरे से प्रतियोगिता करते हुए आगे बढ़ते हैं। और अंत में जब कक्षा 10 का परिणाम आता है तो जो परीक्षा में शामिल हुए थे उनमें से बड़ा हिस्सा 'फेल' की तालिका में दिखाई देता है और केवल बचे हुए ही अगले स्तर की ओर बढ़ पाते हैं, जिसके अंत में उन्हें एक और बोर्ड परीक्षा का सामना करना होगा और जिसके नतीजे ये तय करेंगे कि कॉलेज में प्रवेश पाने की उनकी संभावना कितनी है और उन्हें किस तरह का कॉलेज मिलेगा, यदि वे 'पास' होते हैं।

कक्षा 10 की बोर्ड परीक्षा में फेल होने की दर काफी ऊंची रही है। जैसा कि नवानी (2018) अपने विश्लेषण में दिखाती हैं, फेल होने की दर औपनिवेशक दौर से ही लगातार ऊंची बनी रही है। ये 'पास-फेल' की प्रक्रिया विस्तार के वाबजूद शिक्षा व्यवस्था के बुनियादी चरित्र को बनाए रखती है। पिछले सालों में आरटीई के सीसीई के प्रावधान को बदलकर पुरानी वार्षिक परीक्षा वाली 'पास-फेल' व्यवस्था को वापस लाने की मांग बढ़ती जा रही है। जो यह मांग कर रहे हैं, जिनमें कई राज्य सरकारें भी शामिल हैं, जाहिराना तौर पर आरटीई को महज नामांकन में सुधार लाने हेतु एक कानून की तरह देखते हैं, ना कि एक ऐसे कानून की तरह जो व्यवस्था को अधिक समतावादी बनाने हेतु प्रारम्भिक शिक्षा में सुधार लाएगा। आरटीई के सार्वजनीनता के वायदे और अधिक बराबरी की बुनियाद डालने की इसकी काबिलियत के बीच पहली चीज ने ज्यादा लोकप्रियता अर्जित की है। ◆

लेखक परिचय : जाने-माने शिक्षाविद्, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद् के पूर्व निदेशक और दिल्ली विश्वविद्यालय के केन्द्रीय शिक्षण संस्थान से सेवानिवृत्त।

संपर्क : anhsirk.kumar@gmail.com